३६ कर्त्तव्य-कर्म

□ स्वामी शरणानन्द

प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है। अतः भविष्य में जो कुछ करना है, उसका चिन्तन तभी तक होता है, जब तक मानव कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होता और विश्राम में जीवन है—इसमें आस्था नहीं होती। चिन्तन से उसकी प्राप्ति नहीं होती जो कर्म सापेक्ष है। अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की प्राप्ति कर्म सापेक्ष है, चिन्तन-साध्य नहीं। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आत्मा, परमात्मा का तो चिन्तन करना होगा। अनात्या का आश्रय लिये बिना क्या कोई भी मानव किसी प्रकार का चिन्तन कर सकता है? कदापि नहीं। अनात्मा से असंग होने पर आत्म साक्षात्कार तथा आत्मरति होती है, चिन्तन से नहीं। असंगता अनुभव सिद्ध है, चिन्तन साध्य नहीं। अतः आत्म-चिन्तन अनात्मा का तादात्म्य ही है और कुछ नहीं। परमात्मा से देश-काल की दूरी नहीं है। जो सभी का है, सदैव है, सर्वत्र है और सर्व है, उसकी आत्मीयता ही उससे अभिन्न कर सकती है, कारण कि आत्मीयता अगाध-प्रियता की जननी है। प्रियता-दूरी, भेद-भिन्नता को रहने नहीं देती, अर्थात् मानव को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करती है।

आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही साध्य है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। आस्था, श्रद्धा, विश्वास की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती, अपितु अपने ही द्वारा स्वीकृत होती है। इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि से जिसकी प्रतीति होती है, उससे असंग होना और सुने हुए आत्मा व परमात्मा में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना सत्संग है, अभ्यास नहीं। अभ्यास के लिये किसी 'पर' की अपेक्षा होती है और सत्संग अपने ही द्वारा साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग स्वधर्म तथा प्रत्येक अभ्यास शरीर धर्म ही है। स्वधर्म अपने लिये तथा शरीर धर्म पर के लिये उपयोगी है। योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वधर्म अर्थात् सत्संग से ही साध्य है। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के आदि और अन्त में सत्संग का शुभावसर है। सत्संग के बिना कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति नाश नहीं होती। कर्त्तव्य की विस्मृति में ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और निज स्वरूप की विस्मृति में ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। स्मृति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने में अपने आप जागृत होती है, उसके लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। स्मृति में ही प्रीति, बोध तथा प्राप्ति निहित है। जिस प्रकार काष्ठ में अभिव्यक्त हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार अपने में ही जागृत स्मृति समस्त दोषों को भस्मीभूत कर देती है।

अखण्ड स्मृति किसी श्रमसाध्य उपाय से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम अर्थात् सत्संग से ही साध्य है। अविनाशी का संग किसी उत्पन्न हुई वस्तु के आश्रय से नहीं होता, ममता, कामना एवं तादात्म्य के नाश से ही होता है, जो अपने ही द्वारा अपने से साध्य है।

जो उत्पत्ति विनाशयुक्त है, उसका आश्रय अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व ही है। अविनाशी की मांग मानव मात्र में स्वभाव सिद्ध है और विनाशी की ममता, कामना, भूल जनित है। भूल का नाश होने से ममता, कामना आदि का नाश हो जाता है। फिर स्वाभाविक मांग की पूर्ति स्वतः हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

मांग की जागृति से, ममता तथा कामना के नाश से मांग की पूर्ति होती है, इस दृष्टि से वास्तविक मांग की पूर्ति और ममता, कामना आदि की निवृत्ति अनिवार्य है। इस ध्रुव सत्य में अविचल आस्था करने से सत्संग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

क्रियाजनित सुख का प्रलोभन देहाभिमान, अर्थात् असत् के संग को पोषित करता है। असत् का संग रहते हुए किसी भी मानव को वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस दृष्टि से असत् का त्याग तथा सत् का संग अनिवार्य है। यह नियम है कि जो मानव मात्र के लिये अनिवार्य है, उसकी प्राप्ति में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। यह वैधानिक तथ्य है। अतः सत्संग मानव मात्र के लिये सुलभ है। उससे निराश होना भूल है। उसके लिये नित नव-उत्साह बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। उत्साह मानव को सजगता तथा तत्परता प्रदान करता है। उत्साहहीन जीवन निराशा की ओर ले जाता है, जो अवनति का मूल है। जिसकी प्राप्ति में निराशा की गन्ध भी नहीं है उनके लिये उत्साह सुरक्षित रखना सहज तथा स्वाभाविक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सत्संग को अपना जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार करता है, कारण कि सत्संग के बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की जागृति सम्भव नहीं है। काम की निवृत्ति में ही नित्य योग एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही तत्त्व साक्षात्कार तथा प्रेम की जागृति में अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है जो मानव मात्र की अन्तिम मांग है। क्रियाजनित सुख भोग में पराधीनता, असमर्थता एवं अभाव निहित है जो किसी भी मानव

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त कर्म, मान और भोग में हेतु हैं। मान और भोग की रुचि देहातीत जीवन से अभिन्न नहीं होने देती। देह युक्त जीवन में स्थायित्व नहीं है, यह प्रत्येक मानव का निज अनुभव है। स्थायित्व सहित जीवन वास्तविक जीवन की मांग है, और कुछ नहीं, अर्थात् मानव का अस्तित्व मांग है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाएँ मानव को वास्तविक मांग से विमुख करती हैं और सत्संग से मांग की पूर्ति होती है।

कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अर्थ में हो जाती है। शरीर और सृष्टि के प्रति ही कर्म की अपेक्षा है, वह कर्म जो शरीर तथा सृष्टि के लिये अहितकर है, उसका करना असत् का संग है। अहितकर कर्म का त्याग सत् का संग है, अर्थात् जो नहीं करना चाहिये उसका करना असत् का संग और उसका न करना सत् का संग है। कर्म विज्ञान की दृष्टि से जो नहीं करना चाहिये, उसके न करने में ही जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से जो करना चाहिये वह स्वतः होगा, पर जो नहीं करना चाहिये उसका त्याग अनिवार्य है। सत्संग त्याग से ही साध्य है। त्याग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। जैसे कुछ भी करने से पूर्व न करना स्वतःसिद्ध है और करने के अन्त में भी न करना ही है। जो आदि और अन्त में है, उसे अपना लेना सत्संग है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अकर्मण्यता तथा आलस्य का मानव जीवन में कोई स्थान है। अकर्मण्यता तथा आलस्य तो सर्वथा त्याज्य है। स्व के प्रति करने की बात है ही नहीं, परहित में ही कर्म का स्थान है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व हितकारी सद्भावना से ही आरम्भ हो। प्रवृत्ति के द्वारा अपने को कुछ भी नहीं पाना है, यह अनुभव हो जाने पर ही कर्म-विज्ञान की पूर्णता होती है। कर्म विज्ञान वह विज्ञान है जो मानव को क्रियाजनित सुख लोलुपता से रहित करने में समर्थ है। क्रियाजनित सुख लोलुपता का अन्त होते ही योग-विज्ञान का आरम्भ होता है जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। योग की अभिव्यक्ति के लिये किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है अपितु मूक-सत्संग ही अपेक्षित है।

मूक-सत्संग का अर्थ कोई श्रमयुक्त मानसिक साधन नहीं है, अपितु अहंकृति-रहित विश्राम है। कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। कर्त्तव्य के अन्त में अपने आप आने वाला विश्राम मूक सत्संग है। विश्राम काल में ही सार्थक तथा निरर्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति होती है। सार्थक चिन्तन का अर्थ है अखण्ड स्मृति और निरर्थक चिन्तन का अर्थ है भुक्त-अभुक्त का प्रभाव। भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति को ही व्यर्थ चिन्तन, मानसिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चंचलता आदि कहते हैं जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति यद्यपि मानव के विकास में हेतु है, परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को न जानने के कारण हम अपने आप होने वाले चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं और यह भूल जाते हैं कि किये हुए का तथा करने की रुचि का परिणाम ही तो व्यर्थ चिन्तन है। जिस कारण से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश न करना और उसी के द्वारा व्यर्थ चिन्तन मिटाने का प्रयास करना व्यर्थ चिन्तन को ही पोषित करना है।

व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति मानव को यह बोध कराती है कि भूतकाल में क्या कर चुके हो और भविष्य में क्या करना चाहते हो। जो कर चुके हो उसका परिणाम क्या है ? जो करना चाहते हो उसका परिणाम क्या होगा, इस पर विचार करने का सुअवसर व्यर्थ चिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थ चिन्तन का सदुपयोग न करना और उसको बलपूर्वक किसी क्रिया-विशेष से मिटाने का प्रयास करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। ज्यों-ज्यों व्यर्थ चिन्तन मिटाने के लिये किसी क्रिया विशेष को अपनाते हैं, त्यों-त्यों व्यर्थ चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है। किये हुए के परिणाम को किसी कर्म के द्वारा मिटाने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध होता है अर्थात् व्यर्थ चिन्तन नाश नहीं होता। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करने के लिये क्रिया-जनित सुख लोलुपता का सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब मूक-सत्संग के द्वारा शान्ति की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं अखण्ड स्मृति जागृत हो जाय। शान्ति में योग, विचार में बोध एवं अखण्ड स्मृति में अगाध रस निहित है। क्रिया-जनित सुख-लोलुपता की दासता का नाश रस की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। सुख-लोलुपता मानव को सदैव पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध करती है। किन्तु रस की अभिव्यक्ति में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि की गन्ध भी नहीं है। इतना ही नहीं, पराधीनता से ही क्रिया-जनित सुख उत्पन्न होता है। जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है तब वह बड़ी ही सुगमता एवं स्वाधीनतापूर्वक सत्संग करने में तत्पर होता है। यह कैसा आश्चर्य है ? जिसकी उपलब्धि स्वाधीनतापूर्वक होती है उससे विमुख होना और जिसमें पराधीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसके लिये प्रयास करना, क्या अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान नहीं है ?

सत्संग की भूख जागृत होते ही सत्संग अत्यन्त सुलभ हो जाता है। उससे निराश होना भूल है। जो मौजूद है उसका संग न करना और जो नहीं है उसके पीछे दौड़ने का प्रयास करना क्या प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय नहीं है ? अर्थात् अवश्य है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यह अनुभव सिद्ध है कि प्रतीति की ओर प्रवृत्ति भले ही हो, किन्तु परिणाम में प्राप्ति कुछ नहीं है। प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली निवृत्ति ही मूक सत्संग है। उस निवृत्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब "अपने लिये कुछ भी करना नहीं है, अपितु सेवा, त्याग, प्रेम में ही जीवन है"—इसमें किसी प्रकार का विकल्प न हो।

प्रवृत्ति का आकर्षण पराधीनता को जन्म देता है। प्रवृत्तियों का उद्गम देहाभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देहाभिमान की उत्पत्ति भूलजनित है, जिसकी निवृत्ति मूक-सत्संग से ही साध्य है।

• □ •

आप आप कै करम सूं, आपै निरमल होय।
आपां नै निरमल करै, और न दूजो कोय॥

आपै ही खोटा करै, आपै मैलो होय।
खोटी करणी छूटतां, आपै उजली होय॥

तीन बात बन्धन बन्ध्या, राग, द्वेष, अभिमान।
तीन बात बन्धन खुल्या, शील, समाधि, ज्ञान॥

जब तक मन में मोह है, राग-द्वेष भरपूर।
तब तक मन संतप्त है, शान्ति बहुत ही दूर॥

जब तक मन में राग है, जब तक मन में द्वेष।
तब तक दुःख ही दुःख है, मिटें न मन के क्लेश॥

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश॥

क्रोध क्षोभ का मूल है, शान्ति-शान्ति की खान।
क्रोध छोड़ धारे क्षमा, होय अमित कल्याण॥

राग जिसो ना रोग है, द्वेष जिसो ना दोष।
मोह जिसो ना मूढ़ता, धरम जिसो ना होस॥

—सत्यनारायण गोयनका

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org